# महावीर पूर्व जैन धर्म की परंपरा : आत्मानुसंधान की यात्रा

डॉ. महावीरसरन जैन

भगवान महावीर जैन धर्म के प्रवर्तक नहीं, प्रवर्तमान अवसर्पिणि काल के चौबीसवें तीर्थंकर हैं। जैन पौराणिक मान्यता के अनुसार कालचक्र चलता रहता है। एक कालचक्र में काल की अपेक्षा दो भाग होते हैं। विश्व में कभी सामूहिक रूप से क्रमिक विकास होता है; कभी क्रमिक ह्रास। क्रमिक ह्रास वाला कालचक्र अवसर्पिणि काल है जिसके क्रमिक अपकर्ष काल १ अति सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषमा-दुःषमा, ४. दुःषमा-सुषमा, ५. दुषमा, ६. अति दुःषमा है। यह दस कोटा-कोटि सागर की स्थितिवाला काल होता है। जिसमें पुद्गलों के वर्ण, गंध, रूप, रस, स्पर्श एवं प्राणियों की आयु, अवगाहना, संहनन, बल, बल-वीर्य आदि का क्रमिक अपकर्ष एवं ह्रास होता है। क्रमिक विकास वाला काल चक्र उत्सर्पिणि काल है जिसमें क्रमिक उत्कर्ष काल १. अति दुषमा, २. दुषमा, ३. दुषमा-सुषमा, ४. सुषमा दुषमा, ५. सुषमा, ६. अति सुषमा है। अवसर्पिणि की चरम सीमा ही उत्सर्पिणि का प्रारंभ है। इस प्रकार उत्सर्पिणि अवसर्पिणि काल के उल्टे क्रम से उत्कर्षोन्मुख दस कोटा कोटि सागर की स्थिति वाला काल है।

प्रवर्तमान अवसर्पिणिकाल में वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों का जन्म हुआ तथा अवसर्पिणि काल के दुषमा-सुषमा पूरा होने के ७४ वर्ष ११ महीने ७॥ दिन पूर्व महावीर का जन्म हुआ।

जैन मान्यता प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ या ऋषभदेव को प्रवर्तमान काल के चौबीसी तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर मानती है। कुछ विद्वानों ने मोहनजोदड़ो के खंडहरों से प्राप्त ध्यानस्थ नग्न योगी की मूर्ति को योगीश्वर ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा के रूप में स्वीकार किया है।[1] इसके विपरीत कुछ इतिहासकारों ने जैन धर्म को बुद्ध धर्म के समानान्तर उत्पन्न धर्म मान कर इसकी पूर्व महावीरकालीन परंपरा को अस्वीकार किया। उनकी अस्वीकृति का मूल कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि "जिन" एवं "जैन" शब्दों का प्रयोग महावीरोत्तर युग के ग्रन्थों में मिलता है। 'दशवैकालिक' में सौच्चाणं जिण सामणं, सूत्रकृतांग में अणुत्तरधम्म मिणं जिणाणं तथा "उत्तराध्ययन" में 'जिणवमय' आदि शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग पढ़कर धर्म एवं दर्शन की अविरल परम्परा से अनभिज्ञ किसी भी अनुसंधित्सु को इस प्रकार की प्रतीति होना सहज है कि जिन शासन जिन मार्ग के उपदेशक महावीर ही जैन धर्म के संस्थापक रहे होंगे।

शब्दों की यात्रा के साथ-साथ उपराम हो जाने का परिणाम इसी प्रकार का होता है। जीवन के प्रत्येक चरण में शब्द बदलते रहते हैं। बदलती हुई संस्कृति या वातावरण के साथ शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। भाषा में शब्दावली सहज ही प्रविष्ट होती रहती है और लुप्त होती रहती है।

मनुष्य की आत्मा की खोज की यात्रा बहुत पुरानी है। उस यात्रा की साधना को व्यक्त करने वाली शब्दावली बदलती रहती है। 'जैन' शब्द का स्वतंत्र प्रयोग तो महावीर के बहुत बाद जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य में मिलता है।[2] किन्तु जब हम ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ना आरंभ करते हैं तो अज्ञात युग के वाचक जगह जगह अपनी अतीत की स्मृतियों की याद दिला जाते हैं। महावीर के उपदेशों का संकलन करने वाले १२ ग्रन्थ में एक ग्रन्थ का नाम है 'नायाधम्म कहाओ' ज्ञातृ धर्म कथाये : इससे जैन धर्म के पूर्ववर्ती नामों की खोज की प्रेरणा अनायास प्राप्त होती है। महावीर के समसामयिक गौतम बुद्ध के

१. डा. नेमीचंद शास्त्री ज्योतिषाचार्य, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा पृ. ३।

२. आचार्य हस्तीमलजी महाराज–जैन धर्म का मौलिक इतिहास प्रथम खंड तीर्थंकर खंड पृ. ४३



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेशों को संकलित करने वाले 'त्रिपिटक' महावीर को 'निगंठनाटपुत्त' के नाम से पुकारते हैं और इतिहास के पन्नों में निगंठ (निर्ग्रन्थ) (धम्म) धर्म का उल्लेख मिलता है। 'णमो अरिहंताणं–णमोकार पढ़ते पढ़ते जब पद्मपुराण की पंक्तियां मानस में गूंजती हैं कि आर्हत धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है[3] तो महावीर द्वारा प्रतिपादित 'धर्मोमंगल मुक्किट्ठं'[4] के पूर्ववर्ती सूत्र सहज ही प्राप्त होने लगते हैं। जब इतिहास यह उद्घोष करने लगता है कि भारत में श्रमण परंपरा प्राक्वैदिक परंपरा है और जब महावीर परवर्ती ग्रन्थ उत्तराध्ययन निर्भ्रान्ति रूप में अभिव्यक्त करता है कि 'समयाएसमणो होइ' समभाव की साधना करने से श्रमण होता है[5] तो यह बात साफ होने लगती है कि महावीर ने जिस धर्म एवं दर्शन का प्रचार एवं प्रसार किया है, उसकी परंपरा प्राक् वैदिक युग से पोषित एवं विकसित होती आयी है।

जैन धर्म के महावीर-पूर्व-युगीन नामों का अस्तित्व अब अनुमानाश्रित नहीं, इतिहास के द्वारा अनुमोदित तथ्य है। भारतीय इतिहास श्रमण परंपरा, अर्हत, धर्म एवं निर्ग्रन्थ धर्म का तथ्यपरक उल्लेख करता है।

## श्रमण परम्परा

'श्रमण' शब्द 'श्रम' एवं 'सम' भाव को व्यक्त करता है। 'श्राम्यतीति श्रमणः तपस्यंतीत्यर्थः' श्रम करने वाला श्रमण है और श्रम का भाव है तपस्या करना। श्रमण का व्युत्पत्यर्थ ही इसकी परम्परा के स्वरूपगत वैशिष्ट्य को प्रकट करता है। यह परंपरा अकर्मण्य, भाग्यवादी एवं भोगवादी नहीं, मानव के पौरुष की परीक्षा करनेवाली; कर्म में विश्वास रखनेवाली तथा अपनी ही साधना एवं तपस्या के बल पर 'तीर्थ' का निर्माण कर सकने की भावना में विश्वास रखकर तदनुरूप आचरण करने वाली साधना परंपरा है। इसी भाव को सायण टीकाकार ने व्यक्त किया है––

वातरशनाख्या ऋषभः श्रमणास्तपस्विनः[6]

श्रमण की 'सम' अर्थपरकता को श्रीमद् भागवत व्यंजित करता है–

'आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः[7]

जैन ग्रन्थों में 'श्रमण' के उपर्युक्त दोनों ही अर्थ प्रतिपादित एवं मान्य हैं। उत्तराध्ययन इसकी 'समभाव' साधना के अर्थ को उद्घाटित करता है[7] तो दशवैकालिक सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् दर्शन सम्पन्न तथा संयम व तप में निरत श्रमण साधु के वैशिष्ट्यर्थक को व्यक्त करता है––

''नाणदंसण संपण्णं, संयमे य तवे रयं''[9]

३. पद्म पुराण १३/३५०
४. दशवैकालिक १/१
५. उत्तराध्ययन २५/३२
६. सायन टीकाकार ५
७. श्रीमद्भागवत १३/३/१८-१९
८. उत्तराध्ययन २५-३२
९. दशवैकालिक ७/४९

श्रमण परंपरा की प्राचीनता के संबन्ध में श्री रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है कि––अनुमान यह है कि श्रमण संस्कृति आर्यों के आगमन के पूर्व से ही इस देश में विद्यमान थी। ये श्रमण अवैदिक होते थे। ब्राह्मण यज्ञ को मानते थे, श्रमण उन्हें अनुपयोगी समझते थे।[10]

## आर्हत् धर्म

भगवान महावीर के समय तक ''आर्हत धर्म'' या निर्ग्रन्थ धर्म शब्दों का प्रयोग मिलता है।

जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकरों ने अर्हन्त होकर ही धर्म का उपदेश दिया। जैन दर्शन के ''अर्हंत'' शब्द की विशेष सार्थकता है। जब जीव कर्मों से पृथक होने का उपक्रम करके ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अंतराय कर्मों से अपने को पृथक् कर लेता है तब वह ''केवलज्ञानी'' हो जाता है और उसे 'अरहत्' संज्ञा की प्राप्ति होती है। अरहत् शब्द की व्युत्पत्ति अर्ह धातु से है, जो पूजा वाचक है। अर्हंतों द्वारा प्रतिपादित और अर्हन्तावस्था की उपलब्धि करने वाले 'अर्हत् धर्म' के सूत्र प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं। ऋग्वेद में कहा गया है––
अर्हन्ता चित्पुरोदधेऽशेव देवावर्वते[11]

## निर्ग्रन्थ धर्म

श्रमण परंपरा में जैन साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। भगवान महावीर को भी इसी कारण पालि साहित्य में निगण्ठ (निर्ग्रन्थ) कहा गया है। त्रिपिटकों में प्राप्त निर्ग्रन्थों की तपस्या के अनेक स्थलों का मुनि श्री नगराजजी ने अपनी पुस्तक ''आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन'' में उल्लेख किया है।[12]

जैन शास्त्रों में पाँच प्रकार के श्रमण बतलाये गये हैं––
१. निर्ग्रन्थ, २. शाक्य, ३. तापस, ४. गेरूअ और ५. आजीवक।

''निग्गिंथा, सवक, तावस, गेरूय, आजीव पंचहा समणा''[13]

जैन श्रमणों को निर्ग्रन्थ कहा गया है। वैदिक साहित्य में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग मिलता है। निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः इति संवर्त श्रुतिः।[14]

श्रमण परम्परा के दिगम्बर (वातरशना) ऋषियों एवं मुनियों का उल्लेख प्राचीनतम ग्रन्थों में मिलता है। ऋग्वेद में वातरशना मुनि का वर्णन है––

''मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला''[15]

दिगंबर ऋषि श्रमण एवं ऊर्ध्वरेता होते थे। इसकी पुष्टि उपनिषद् एवं भागवत करते हैं। तैत्तरियोपनिषद् का कथन है––

१०. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय पृ. १२१ (तृतीय संस्करण।)
११. ऋग्वेद ६/८६/५
१२. मुनि श्री नगराज–आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
१३. प्रवचन सारोद्धार ९४
१४. तैत्तरीय आरण्यक १०/६३
१५. ऋग्वेद १०/११/१३६/२



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वातरशना ह् वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमथिनो बभूवः ।[16] इसी भाव को श्रीमद् भागवत में व्यक्त किया गया है––"वातरशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः"[17]

## जैन तीर्थंकर

महावीर पर्व प्रवर्तमान अवसर्पिणि काल के २३ तीर्थंकरों में से इतिहास भी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ, २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ, तथा २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का ऐतिहासिक अस्तित्व स्वीकार करता है।

**ऋषभदेव**––श्रीमद् भागवत के अनुसार वातरशना श्रमणों के धर्म का प्रवर्तन भगवान ऋषभदेव ने किया ।[18]

डा. हर्मन जेकोबी ने स्पष्ट लिखा है कि जैन परम्परा सर्व सम्मति से एकमतेन ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर अर्थात् आदि संस्थापक मानती है। इस पुष्ट परम्परा में ऐतिहासिकता हो सकती है––

"Jain tradition is unanimous in making Rishab, the first Tirthankar as the founder. There may be some historical tradition which makes him the first Tirthankar.[19]

विद्वान अब इस बात को मानते हैं कि ऋषभदेव उस अहिंसा परम्परा के आदि जनक थे, जिसके सूत्र प्राग्वैदिक हैं। "प्राग्वैदिक परम्परा के प्रभाव से अहिंसा, धर्म और अहिंसक यज्ञ की कल्पना भारत में बुद्ध से पहले फैल चुकी थी और उसके मूल प्रवर्तक घोर-आंगिरस और ऋषभदेव थे।"[20]

श्रमण परम्परा की प्राग्वैदिक परम्परा एवं भगवान ऋषभदेव का विवेचन आचार्य श्री तुलसी ने "Pre-Vedic Existance of SRAMAN Tradition में विस्तारपूर्वक किया है ।[21]

## नेमिनाथ

विद्वानों ने नेमिनाथ को श्रीकृष्ण के चचेरे भाई के रूप में स्वीकार किया है। महाभारत के अनुशासन पर्व के ५० एवं ८२वें श्लोकों में "शूरः शौरिजिनेश्वर" पाठ मानकर कृष्ण के साथ साथ अरिष्टनेमि का उल्लेख किया गया है।[22] जैन ग्रन्थों के अनुसार यादवों की राजधानी पहले शूरसेन प्रदेश में शोरीपुर थी। शोरीपुर में जन्में शोरिजिनेश्वरः नेमिनाथ के उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त हैं। ये उसी प्रकार के ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्तित्व हैं जिस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण हैं।

## पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता अब असंदिग्ध है। पार्श्वनाथ का निर्वाण महावीर-जन्म से २५० वर्ष पूर्व हुआ था और उनकी आयु १०० वर्ष थी। अतः पार्श्वनाथ का समय ई. पू. ८७७-७७७ है। भगवान महावीर एवं बुद्ध के समय पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं के व्यापक प्रभाव का उल्लेख मिलता है। आवश्यक सूत्र निर्युक्ति में वर्णित है कि जब भगवान महावीर कुमारक सन्निवेश पधारे तो उद्यान में ध्यानावस्थित हो गए। उनके शिष्य गोशालक जब बस्ती में गए तो वहाँ उन्होंने कूपनय नामक एक धनाढ्य कुंभकार की शाला में पार्श्वनाथ परम्परा के आचार्य मुनिचन्द्र को अपने शिष्यों सहित देखा।[23]

जैन आगमों में पार्श्वसंतानीय निर्ग्रन्थ श्रमण केशीकुमार का अपने वृहत् शिष्य समुदाय के साथ महावीर के संघ में प्रविष्ट होने का उल्लेख है। उनके साथ महावीर के गणधर गौतम के विस्तृत वार्तालाप का भी उल्लेख है जिसमें वे दोनों इस बात पर भी विचार करते हैं कि महामुनि पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया और स्वामी वर्द्धमान पांच शिक्षा रूप धर्म का उपदेश करते हैं।[24]

पार्श्वानुगामी अन्य साधुओं के भी उल्लेख आगमों में मिलते हैं। जैन परम्परा महावीर के माता-पिता को भी पार्श्वापत्यीय (पार्श्वनाथ की परम्परा से संबंध रखने वाले) श्रावक मानती है। यद्यपि महावीर ने अपना धर्मसंघ बनाया तथापि उन्होंने भी यह सदैव स्वीकार किया कि जो पूर्व तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है, वही वे कह रहे हैं।[25]

कुछ इतिहासकार राजा श्रेणिक की वंश परम्परा को पार्श्व से संबन्धित मानते हैं। डॉ. जायसवाल ने लिखा है कि राजा श्रेणिक के पूर्वज काशी से मगध आए थे। काशी में उनका वही राजवंश था जिसमें तीर्थंकर पार्श्व पैदा हुए थे।[26]

डॉ. धर्मानन्द कौसाम्बी ने बुद्ध के जीवन से संबन्धित त्रिपिटक से एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख किया है जिससे यह निश्चित होता है कि वे बोधि प्राप्ति के पूर्व पार्श्व परम्परा से सम्बद्ध रहे थे। मज्झिम निकाय के महासिंहनाद सुत्त में वर्णित है कि भगवान बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहा––

---

१६. तैत्तरीयोपनिषद् २/७
१७. श्रीमद् भागवत ११/६/४७
१८. श्रीमद्भागवत ११/२/२०, ५/३/२०
19 . Dr. Hermann Jakobi—Indian Antiquity.
२०. रामधारीसिंह दिनकर–संस्कृति के चार अध्याय पृ. १२६
21 . Acharya Shree Tulsi-Pre-Vedic Existence of SRAMAN Tradition. Paper read at XXIV International Congress of Orientalists. New Delhi 4th January 1964.
२२. श्रीचंद रामपुरिया अर्हत् अरिष्टनेमि और वासुदेव कृष्ण पृ. ६ : श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता १९६० ई.
२३. आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति पूर्वभाग गा. ४७७ पत्र संख्या २७९
२४. उत्तराध्ययन सूत्र अ. २३
२५. व्याख्या प्रज्ञप्ति, श. ५, उद्दे. ९ सू. २२७
२६. डा. काशीप्रसाद जायसवाल–भारतीय इतिहास, एक दृष्टि पृ. ६२



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"सारिपुत्र ! बोधि प्राप्ति के पूर्व में दाढ़ी, मूँछों का लुंचन करता था, खड़ा रहकर तपस्या करता था, उकडू बैठकर तपस्या करता था, नंगा रहता था, हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था। बैठे हुए स्थान पर आकर दिए हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किए हुए अन्न को और निमंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता था।[27]

इस संदर्भ के आधार पर डॉ. धर्मानन्द कौसाम्बी[28] एवं पं. सुखलालजी[29] ने इस धारणा को व्यक्त किया कि बुद्ध कुछ समय के लिए पार्श्वनाथ की परम्परा में रहे थे।

डा. राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इस मत से अपनी सहमति प्रकट की है।[30] बुद्ध द्वारा जैन धर्म की तप विधि के अभ्यास की पुष्टि श्रीमती राइस डेविड्स[31] ने भी की है।

पार्श्व के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की स्थापना का पाश्चात्य विद्वानों में सर्वप्रथम श्रेय डा. जेकोबी को है।[32]

डा. चार्ल शार्पेंटियर ने लिखा है कि जैन धर्म निश्चित रूप से इतिहास के एक यथार्थ पात्र रहे हैं। उनके शब्दों में—

"We ought also to remember both the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parshva having almost certainly, existed as a real person & that consequently, the main points of the original doctrine may have been condified long before Mahavira."

डॉ. रामधारीसिंह दिनकर ने अहिंसा धर्म की परम्परा में पार्श्वनाथ की देन को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"श्रीकृष्ण के समय से आगे बढ़ें, तब भी, बुद्ध देव से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व हम जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ को अहिंसा का विमल संदेश सुनाते पाते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि पार्श्वनाथ के पूर्व, अहिंसा केवल तपस्वियों के आचरण में सम्मिलित थी, किन्तु पार्श्व मुनि ने उसे सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ बांधकर सर्व साधारण की व्यावहारिक कोटि में डाल दिया।[34]

पार्श्वनाथ ने चार मुख्य उपदेश दिये इस कारण पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते हैं। पार्श्वनाथ ने सामयिक चारित्र धर्म की शिक्षा चातुर्याम—चार त्यागों के रूप में दी—

१. सर्व–प्राणातिपात–विरमण —हिंसा का त्याग
२. सर्व–मृषावाद–विरमण —असत्य का त्याग
३. सर्व–अदत्तादान–विरमण —चौर्य त्याग
४. सर्व–बहिद्धादान–विरमण —परिग्रह त्याग

पार्श्वनाथ के समय में धर्म साधक अत्यंत ऋजु, प्रज्ञ एवं विज्ञ थे तथा वे स्त्री को भी परिग्रह के अंतर्गत समझकर बहिद्धादान में उसका अन्तर्भाव करते थे।

## चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर

महावीर ने अपने समय की परिस्थितियों के संदर्भ में ब्रह्मचर्य व्रत का अलग से उल्लेख किया। उन्होंने छेदोपस्थानीय चारित्र अर्थात् विभागयुक्त चारित्र की व्यवस्था की। पूज्यपाद (वि. सं. ५-६ शताब्दी) ने महावीर के विभाग-युक्त चारित्र का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

"भगवान महावीर ने चारित्र धर्म के तेरह विभाग किए। पाँच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां। ये विभाग उनके पूर्व नहीं थे।

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषा निमित्तोदयाः
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानि व्यपिः
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै
राचारं परमेष्ठिनो जिनमते वीरान् नमामो वयम् ॥[35]

महावीर का महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने उग्र तपस्या करके संघर्षों को सहज रूप से झेलने का एक मानदंड स्थापित किया तथा आत्मजय की साधना को अपने ही पुरुषार्थ एवं चारित्र से सिद्ध करने की विचारणा को लोकोन्मुख बनाकर भारतीय मनीषा को नया मोड़ दिया। उनका जीवन आध्यात्मिक चिन्तन, मनन एवं संयमी जीवन का साक्षात्कार है, निष्कर्मदर्शी के निष्कर्म आत्मा को देखने का दर्पण है, आत्मा को आत्म-साधना से पहचानने का मापदण्ड है, तप द्वारा कर्मों को क्षय करके आत्म-स्वभाव में रमण करने की प्रक्रिया है तथा इससे भी बड़ी बात यह है कि किसी के आगे झुक कर नहीं प्रत्युत अपनी ही शक्ति एवं साधना के बल पर जीवात्मा के परमात्मा बनने की वैज्ञानिक प्रयोगशाला है। □

---

२७. डॉ. धर्मानन्द कौसाम्बी भगवान बुद्ध पृ. ६८-६९
२८. डॉ. धर्मानन्द कौसाम्बी पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ. २८/३१
२९. पं सुखलालजी–चार तीर्थंकर पृ. १४०/१४१
३०. डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी–हिन्दू सभ्यता–अनु. डा. वासुदेव शरण अग्रवाल राजकमल प्रकाशन दिल्ली पृ. २३९
३१. Mrs. Rhys Devis—Gautam the man. PP 22-25.
३२. Dr. Jacobi—Sacred Books of the East Vol. XIV Introduction to Jain Sutras Vol. II P. 21.
३३. डॉ. चार्ल शार्पेंटियर—The Uttradhyan Sutra Introduction P. 21.
३४. डा. रामधारीसिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय पृ. १२६
३५. पूज्यपाद चारित्र भक्ति ७



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org